वैदिक कालीन समाज

1. परिवार : ऋग्वेदिक कालीन समाज प्रारम्भ में वर्ग विभेद से रहित था। सभी व्यक्ति जन के सदस्य समझे जाते थे तथा सबकी समान सामाजिक प्रतिष्ठा थी। कोई भी विशेषाधिकार सम्पन्न वर्ग नहीं था। ऋग्वैदिक समाज का आधार परिवार था। परिवार संयुक्त तथा पितृ सत्तात्मक होता था। परिवार के मुखिया तथा पिता को असीमित अधिकार प्राप्त था। दिवालिया जुआरी के दृष्टान्तो से स्पष्ट होता है कि परिवार में मुखियां पुरूष का पूर्ण नियंत्रण था। ऋजाटव के दृष्टान्त से ज्ञात होता है कि उसके पिता ने उसे अन्धा बना डाला था। वरूण सुक्त के शेष के आख्यान से ऐसा निष्कर्ष निकलता है कि पिता अपनी संतान को बेच सकता था। संयुक्त परिवार की प्रथा प्रचलित थी। विवाह सूक्त से ज्ञात होता है कि नव विवाहिता वधु अपने पति के घर में सास, ससुर, देवर, ननद के उपर अधिकार रखने वाली साम्राज्ञी बन जाती थी। इससे एक ही परिवार में कई सम्बन्धियों के रहने की सूचना मिलती है।

2. वर्ण व्यवस्था : पूर्व वैदिक कालीन समाज में वर्ण व्यवस्था का स्पष्ट प्रावधान नहीं किया गया था। ऋग्वेद में वर्ण शब्द रंग के अर्थ में तथा कहीं–2 पर व्यवसाय चयन के अर्थ मं प्रयुक्त हुआ है। आर्यों को गौर वर्ण तथा अनार्यों को कृष्ण वर्ण कहा गया है।

आर्य जन जब तक भारत में प्रवेश किये तो वे सर्व प्रथम मुख्यतः तीन सामाजिक वर्गों में विभाजित थे। योद्धा अथवा कुलीन वर्गों में विभाजिक थे। योद्धा अथवा कुलीन वर्ग, पुरोहित एवं सर्वसाधारण वर्ग भातर में प्रवेश के बाद आर्यों को अनार्यों से संघर्ष करना पड़ा। इस प्रकार संघर्ष में भाग लेने वाले को क्षत्र कहा गया। क्षत्र का अर्थ हानि से रक्षा करने वाला होता है। 2. इसी प्रकार से यज्ञो को कराने के लिए जो व्यक्ति चुने गये उन्हे ब्रहम कहा गया। शेष जनता को विष कहा गया। परन्तु इन तीनों वर्गों में कोई कठोरता नहीं थी। एक ही परिवार के लोग ब्रहम, क्षत्र, विष हो सकते थे। ऋग्वेद के एक स्थान पर एक ऋषि कहता है –

मैं कवि हूँ, मेरा पिता वैद्य है तथा मेरी माता अनाज पीसने वाली है। साधन भिन्न है परन्तु सभी धन की कामना करते हैं।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि समाज का तीन वर्गों में विभाजन मात्र व्यवहारिक व आर्थिक संगठन की सुविधा के लिये किया गया था। अतः वर्ण व्यवस्था जन्मजात न होकर व्यवसाय पर आधारित थी। व्यवसाय परिवर्तन सम्भव था।

ऋग्वेद के 10वें मण्डल के पुरूषसूक्त में सर्व प्रथम सूद्र शब्द का उल्लेख मिलता है। जो परवर्ती कालीन वर्ण व्यवस्था का चौथा वर्ग था। यह चारो वर्णों पर उत्पत्ति एक विराट पुरूष के विभिन्न अंगो से बतायी गई है। यह कहा गया है कि जब देवताओं ने विराट पुरूष की बलि दी तो उसके मुख से ब्राहमण, भुजाओं से राजन्य, उरूभाग से वैश्य तथा पैरों से सूद्र उत्पन्न हुए।

ब्राहमणोउस्थ मुखमासीद, बाहु राजन्य कृतः।
उरू तदस्य सद्धैश्यः पदश्याम शुद्रो अजायत।।

ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यो ने अनार्यों को दास–दस्यु को परास्त उन्हें सामाजिक परिधि से बहिष्कृत कर दिया औरर उन्हें अपने सामाजिक संगठन में सबसे निम्न और अन्तिम स्थान प्रदान किया जो कालान्तर में एक चौथा वर्ग सूद्र नाम से समाज में उत्पन्न हुआ। प्रारम्भ में ऐसा माना जाता था कि सुद्र वर्ण के अन्तर्गत केवल अनार्य वर्ण के लोग ह सम्मिलित थे। लेकिन आर0एस0 शर्मा ने इस वर्ण के तहत आर्य तथा अनार्य दोनो को माना है। उनका मत है कि ''आर्थिक तथा सामाजिक विषमताओं के फलस्वरूप दोनो ही वर्गो में श्रमिक वर्ग का उदय हुआ। जो बाद में सभी वर्गों की सामान्य संज्ञा सूद्र हो गयी।

3. दास प्रथा : ऋग्वेदीय समाज की चर्चा में दास एवं दश्यु का उल्लेख भी अपेक्षित है। इनके साथ आर्यों के संघर्ष के पर्याप्त वर्णन है। पाश्चात्य विद्वानों ने इनके अनार्यों की श्रेणी में रखकर इन्हें इस भू भाग का आदिम निवासी माना है। किन्तु दास एवं दशुओं के अनार्य श्रेणी में रखना समस्या का अत्यन्त सरलीकरण होगा। हो सकता है ये आर्यों के विभिन्न दलों के प्रतिनिधि हो कुछ सांस्कृतिक व सैद्धान्तिक मतभेदों के कारण दास करार कर दिये गये हों। उदारणार्थ युद्ध व तुर्वस जातियां निसन्देह आर्य पंचमानुषों में गिनी जाती थी। किन्तु इन्हें एक जगह दास कहा गया है। दिवोदास और सुदास नामों की ध्वनियां भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है।

दास तथा दश्युओं को अब्रहमन, अयज्वन, अनासः एवं मृध्रवाचः कहा गया है।

4. विवाह : परिवार में एक पत्नीत्व विवाह सामान्यतः प्रचलित यद्यपि कुलीन वर्ग के लोग कई पत्नियां रखते थे। बाल विवाह एवं विधव विवाह नहीं होते थे। विवाह में कन्याओं का पर्याप्त स्वतन्त्रता प्रदान थी। कभी–2 वे अपने पतियों का चुनाव स्वंय करती थी। अन्तर्राजातीय विवाह होते थे। पुर्नविवाह एवं नियोग प्रथ प्रचलित थी। पुत्रों की बहुलता के लिये निरंतर कामना की जाती थी। एक मंत्र में कहा गया है कि है इन्द्रदेव इस स्त्री को दस पुत्र प्रदान करों ताकि इसका पति ग्यारहवां होवे।

समाज में सती प्रथा के प्रचलन का कोई उल्लेख नहीं मिलता। 10वे मण्डल के पुरूष सूक्त से पता चलता है कि इस प्रागैतिहासिक प्रथा की औपचारिकताएं को पूरा करने के लिये स्त्री पुरूष अपने मृत पति के साथ चिता पर लेटती थी फिर उसके सम्बन्धी उससे उठने के लिये आग्रह करते थे।

5. स्त्री दशा : समाज में स्त्रियों की दशा काफी अच्छी थी। उन्हें पर्याप्त स्वतन्त्रता व स्वच्छन्दता प्राप्त थी। शतपथ ब्राहमण में पत्नी को अर्धांगिनी कहा गया है। वह पति के साथ यज्ञीय क्रियाओं मं भाग लेती थी। पत्नी से रहित व्यक्ति यज्ञ करने का अधिकारी नहीं था। ऋग्वेद में जायेदस्तम अर्थात पत्नी ही गुह है। कहा गया है कि समाज में पर्दा प्रथा का प्रचलन नहीं था। उनकी शिक्षा दीक्षा की समुचित व्यवस्था थी। ऋग्वेद में घोषा, लोपा, मुद्रा, विश्वतारा, आदि स्त्रियों के नाम आते हैं जो पर्याप्त शिक्षिता व विद्वषी थी। इसके बावजूद भी उनकों राजनीति में भाग लेने तथा सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार नहीं था।

6. खानपान : आर्यों के मकान बडे और सुन्दर होते थे जिनमें परिवार व पशु साथ–साथ एक ही छत के नीचे रहते थे। पारिवारिक अग्निकुण्ड को विशेष प्रतिष्ठता प्राप्त थी और उसमें अग्नि निरंतर प्रज्वलित रखी जाती थी। आर्य मांसाहारी वव शाकाहारी दोनो प्रकार के भोजन ग्रहण करते थे। अतिथि को सम्मान में गायों का मांस खिलाया जाता था। नमक का उल्लेख नहीं मिलता। सोम व सुरा आर्यों के मुख्य पेय थे। सोमरस का पान वैधानिक था। एक स्थान पर दावा करते हैं कि – सोमरस पीने के बाद उन्होने अमरत्व प्राप्त कर लिया है तथा देवताओं को पारत कर लिया है।

7. वेषभूषा : आर्यों के वस्त्र सूत, उन तथा मृगचर्म से बनाये जाते थे। वस्त्र तीन प्रकार के होते थे। नीवी वासस, अधिवासस, इसके अतिरिक्त स्त्री व पुरूष आभूषण के प्रेमी थे।

रथ दौड, घुडदौड तथा पास फेकना तथा धुत क्रीड़ा उनके आमोद प्रमोद के साधन थे। संगीत मं आर्यो की रूचि का पता केवल प्राचीन साक्षियों में उल्लिखित विविध वाद्य यंत्रो ढोल, बांसुरी, बीन तथा बाद में विकसित मंजीरो से ही नहीं बल्कि सामवेद के गायन पद्धति में प्रयुक्त स्वर, लय, ताल आदि अत्यन्त परिष्कृत ज्ञान से भी उनका बोध होता है। आर्य लोग सत स्वरोत के आरोह अवरोह से भी परिचित थे।

उत्तर वैदिक काल

इस समय भी परिवार संयुक्त तथा पितृ सत्तात्मक था एवं परिवार के मुख्याओं को विशेष अधिकार प्राप्त था। लेकिन अब समाज स्पष्टतः वर्ण व्यवस्था पर आधारित था। वर्णों में क्रमशः कठोरता आने लगी थी और वे जाति के रूप में परिणित होने लगे

थे। परन्तु इस समय भी जाति प्रथा उतनी कठोर नहीं थी जितनी की सूत्रों के काल में देखने को मिलती है।

धार्मिक व सामाजिक क्षेत्र में चारो वर्णों के कर्तव्यों, अधिकारों और स्थित में स्पष्ट विभेद किया जाने लगा था। ब्राहमण एवं क्षत्रीय अनुत्पादी होते हुए भी विशेषाधिकार सम्पन्न वर्ग थे। क्योंकि वे ही उत्पादन के नियंत्रण कर्ता थे। शतपथ ब्राहमण में चारों वर्णों की अंत्येष्टि के लिए चार प्रकार के तिलों का उल्लेख है। चारो वर्णों के लिये सम्बोधन ढंग भी अलग–2 थे। क्रमशः आईय, आगहि आओ, आद्रव जल्दी आओ, दौडकर आओ। इसी प्रकार अलग–2 रंग के यज्ञोपवीत का भी विधान था।

ऐतरेय ब्राहमण में चारो वर्गों के कर्तव्यों का वर्णन भी मिलता है। ऐसा लगता है कि इस समय ब्रहामणों व क्षत्रियों में सामाजिक प्रतिष्ठा के लिये प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ हो गयी थी। शतपथ ब्राहमण एक स्थान पर क्षत्रीय को ब्राहमण की अपेक्षा श्रेष्ठ बताता है।

इस समय तक समाज में अश्पुरयता की भावना का उदय नहीं हुआ था। उपनिषदों में उल्लिखित सत्यकाम जावालि तथा जनाश्रुति की कथाओं से स्पष्ट है कि सूद्रो को दर्शन के अध्ययन से वंचित नहीं किया गया था।

स्त्रियों की दशा में ऋग्वेदिक काल की अपेक्षा अब कुछ गिरवाट आयी थी। मैत्राययी संहिता में उसे पासा तथा सुरा के साथ तीन प्रमुख बुराईयों में गिनाया गया है। इसी प्रकार ऐवरेय ब्राहमण में पुत्री को सभी दुःखो का स्रोत तथा पुत्र को परिवार का रक्षक माना गया है। अथर्ववेद भी कन्याओं के जन्म की निन्दा करता है।

ब्रहदारण्यक उपनिषद से ज्ञात है कि एक वाद विवाद के दौरान याज्ञबल्क्य गार्गी को डांटता है कि ज्यादा बहस न करो नहीं तो तुम्हारा सिर तोड़ दिया जायेगा। यद्यपि यह कथन स्त्रियों की दशा में गिरावट के साथ–2 उनकी शिक्षा तथा योग्यता का भी संकेत देता है। राजनीति तथा सम्पत्ति का अधिकार अभी भी उन्हें प्राप्त नहीं था। स्त्रियों की शेष दशा पूर्व जैसी थी।

समाज का शेष जीवन जैसे खान–पान मनोरंजन तथा वस्त्राभूषण आदि ऋग्वेदिक काल के ही समान था। उत्तर वैदिक काल में गोल प्रथा स्थापित हुई। गोल शब्द का मूल अर्थ था गोष्ठ। वह स्थान जहां समूचे कुल का गोधन पाला जाता था। परन्तु बाद में इसका अर्थ एक ही मूल पुरूष से उत्पन्न लोगों का समुदाय हो गया।

ऋग्वैदिक में आश्रम व्यवस्था स्थापित नहीं हुई थी। उत्तर वैदिक काल में मात्र शुरू के तीन आश्रमों का ही उल्लेख मिलता है।

वैदिक कालीन अर्थव्यस्था

आर्यों की संस्कृति मूलतः ग्रामीण थी। पशुपालन तथा कृषि उनके आर्थिक जीवन के मूलभूत आधार थे। आर्य भारत में अर्धविचरणशील पशुचारियों के रूप में आये

थे। उनका निर्वाह मुख्य पशु उत्पादनों से होता था और कुछ समय तक पशु पालन ही उनका मुख्य व्यवसाय रहा। पशु ही आर्यों की सम्पत्ति समझे जाते थे। कृषक पशुओं की वृद्धि के लिए कामना करते थे। सैनिक पशुओं को लूट के धन में पाने की आशा करते थे तथा पुरोहित पशुओं से ही पुरस्कृत किये जाते थे। पशुओं में गाय सबसे बहुमूल्य वस्तु मानी जाती थी। गाय ही मुख्यतः विनिमय का माध्यम होती थी। गाय की महत्ता इतनी थी कि गविठित अर्थात गायो की खोज करना का अर्थ युद्ध करना हो गया जिसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि पशुओं के अपहरण और पशुओं की खोज के परिणाम स्वरूप बहुधा जनों में युद्ध छिड़ जाया करते थे। गाय के बाद अन्य पशुओं में घोड़े को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था। क्योंकि आवागमन तथा युद्ध के लिये घोड़ा अनिवार्य था। इसके अतिरिक्त आर्य भेंड़, बकरी, ब्याघ, ऊंट, बैल, गधा, कुत्ता आदि सभी से परिचित थे। सम्भवतः हाथी से वे परिचित नहीं थे। इस संदर्भ में डा0 आर0एस0 शर्मा का मत समीचीन लगता है कि ऋग्वेदिक आर्य मुख्यतः पशुचारी थे तथा कृषि का उनके जीवन में गौप स्थान था। यही कारण है कि ऋग्वैदिक काल में पशुपालन की तुलना में कृषि उल्लेख बहुत कम हुआ है।

जनों के अधिक स्थाई रूप से बसने पर उनके पेशों में भी परिवर्तन हुआ। पशुपालन के स्थान पर उन्होनें कृषि को अपनाया। उत्तर वैदिक काल में तो कृषि और लोकप्रिय हुई। क्योंकि लोहे के उपयोग के परिणामस्वरूप भूमि को साफ करना अब सरल हो गया था। कृषि योग्य भूमि को उर्वरा अथवा क्षेत्र कहा गया है। लोग लकड़ी के फाल से परिचित थे तथा 6–8 या 12 बैल तक जोते जाते थे। सिंचाई प्रायः नहरों व चक्र की सहायता से होती थी।

ऋग्वेद में एक ही प्रकार के अनाज का ही उल्लेख मिलता है जो या तो विभिन्न प्रकार के अनाजों के सामान्य नाम का द्योतक था या बाद की तरह जौ का सूचक था परन्तु इतना तो निश्चित है कि ऋग्वेदिक चावल से परिचित नहीं थे। प्रारम्भ में भूमि गांव की साझी सम्पत्ति समझी जाती थी। परन्तु ज्यौं–ज्यौं जन इकाइयां समाप्त होती गयी भूमि गांव के परिवारों में बटती गई। इस प्रकार निजी सम्पत्ति का जन्म हुआ।

कृषि को मुख्य व्यवसाय के रूप में अपनाने के फलस्वरूप अनेक व्यवसायों का सूत्रपात हुआ। इनमें रथकार, कमीर, स्वर्णकार, चर्मकार तथा कुम्भकार मुख्य थे। बढ़ई इस समुदाय का एक अत्यन्त सम्मानित सदस्य बना रहा। केवल वह मात्र रथ ही नहीं बल्कि अब कृषि से सम्बन्धित उपकरणों को भी बनाता था।

कृषि ने व्यापार का मार्ग भी प्रशस्त किया। रोमिला थापर का मत है कि ''समाज के भूपतियो में से ही व्यापारी वर्ग का उदय हुआ। क्योंकि समृद्ध भूपतियों द्वारा

कृषि के लिए श्रमिक रखने के कारण उनको व्यापार के लिए अवकाश व पूंजी दोनों प्राप्त हुई।

प्रारम्भ में व्यापार स्थानीय क्षेत्रों तक ही सीमति था और सम्भवतः आर्यो ने बहुत दूर जाने का साहस भी नहीं किया। फिर भी ऋग्वेद में समुद्री जलयानों व यात्राओं का उल्लेख मिलता है। जो पूर्णतः काल्पनिक नहीं हो सकता। ऋग्वेद के एक स्थल पर भृत्यु की समुन्द्र यात्रा का वर्णन है। जिसने मार्ग में जलपान के नष्ट हो जाने पर आत्म रक्षा के लिए अश्विनी कुमारी से प्रार्थना की थी। अश्विनीकुमारी ने उसकी सहायता के लिए 100 पतवारों वाली नौका भेजा थी।

व्यापार विनिमय प्रणाली पर आधारित विनिमय के माध्यम के रूप में **निठक** का विवरण मिलता है लेकिन इसका समीकरण बड़ा विवादास्पद है। चूंकि आर्यों का शिल्प विज्ञान उतनी उन्नत अवस्था में नहीं था। दूसरे व्यापार विनिमय प्रणाली पर आधारित होने के कारण व्यापार स्थानीय क्षेत्रों में ही सम्भव था। कोई भी व्यापारी ऐसी स्थिति में सुदूर व्यापार करने का साहस नहीं कर सकता था।

उत्तर वैदिक कालीन अर्थ व्यवस्था

उत्तर वैदिक कालीन अर्थ व्यवस्था का सर्वाधिक उल्लेखनीय पक्ष लोगो के जीवन में स्थायित्व का होना था जो कृषि के अधिकाधिक प्रसार का परिणाम था। अब पशुपालन का स्थान कृषि से नगण्य हो गया था। चित्रित धूसर एवं उत्तरी काली पॉलिश मृदभाण्डो पुरातात्विक संस्कृतियों से लोगो को स्थाई जीवन की पुष्टि होती है। अब लोग यायावद व बानाबदोशी जीवन को त्याग कर एक स्थान पर बसकर कृषि करते थे।

शतपथ ब्राहमण में कृषि की चारों क्रियाओं जुताई, बुआई, कताई, मड़ाई का उल्लेख किया गया है। काठक संहिता में 24 बैलों द्वारा खींचे गये हल का उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राहमण में ही सीता के पिता और विदेह के राजा जनक काल में जहां मुख्य फसल जौं थी, वहीं अब इसका स्थान गेहूं और चावल ने ले लिया। सौभाग्यवश अतरंजीखेड़ा से गेहूं तथा जौं और हस्तिनापुर से चावल तथा जंगली गन्ने का अवशेष मिला है।

उत्तर वैदिक काल में ही उत्तरी भारत में लोहे का प्रयोग भी शुरू हुआ। निःसन्देह लौह तकनीक ने कृषि के उत्पादन के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन उत्पन्न किया। लगभग 1000 बी0सी0 में पाकिस्तान के गन्धार क्षेत्र में लोहे का प्रयोग शुरू हुआ था। लगभग इसी काल में पूर्वी पंजाब, प0 उत्तर प्रदेश और राजस्थान में भी लोहे

का प्रयोग किया गया। ईसा पूर्व 700 बी0सी0 तक लोहे का प्रसार पूर्वी उत्तर प्रदेश तक हो गया। उत्तर वैदिक साहित्य में लौह को कृष्ण अथस कहा गया है।

कृषि के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के शिल्पों का भी उदय उत्तर वैदिक कालीन अर्थ व्यवस्था की विशेषता थी। वाजसनेयी तथा तैत्तरीय ब्राहमण में इस समय के विभिन्न व्यवसायियों की एक लम्बी सूची निकली है। इसमें स्वर्णकार, रथकार, चर्मकार, जुलाह, रज्जुकार, कुम्भकार, वैद्य, ज्योतिषी आदि प्रमुख थे। स्वर्ण तथा लोहे के अतिरिक्त इस युग के आर्य टिन, तांबा, चांदी, शीशा आदि धातुओं से भी परिचित थे।

उत्तर वैदिक काल के लोग चार प्रकार के मृदभाण्डो से परिचित थे। काला और लाल मृदभाण्ड, काली पोत वाले मृदभाण्ड, चित्रित धूसर मृदभाण्ड, लाल मृदभाण्ड। इनमे लाल मृदभाण्ड सबसे अधिक प्रचिलत था और लगभग समूचे उत्तर पश्चिम प्रदेश में पाया गया है। लेकिन चित्रित धूसर मृदभाण्ड इनमें सर्वोपरित वैशिठय सूचक है।

उत्तर वैदिक काल में व्यापार एवं वाणिज्य उन्नति पर था। ब्राहमण ग्रन्थों में श्रेष्ठि का भी उल्लेख मिलता है। श्रेष्ठी श्रेणी का प्रधान होता था। ब्याज दर पर धन देने का पेशा काफी प्रचलित था। तैत्तरीय संहिता में ऋण के लिय कुसीद शब्द तथा शतपथ ब्राहमण में उधार देने वाले के लिये कुसीदिन शब्द मिलता है।

व्यापार आज भी विनिमय पद्धति पर आधारित था। नियमित सिक्कों का प्रचलन नहीं था। निठक शतमान, कृष्णल, आदि माप की विभिन्न इकाइयां थी।

इस प्रकार कृषि प्रधानता, लोहे का प्रचलन, विभिन्न प्रकार के शिल्पों का उदय, श्रेणी व्यवसाय आदि उत्तर वैदिक कालील अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषता थी।

———————————————————

ऋग्वेदिक कालीन धर्म व्यवस्था

ऋग्वैदिक आर्यो का सामाजिक तथा आर्थिक जीवन जितना ही सरल था धार्मिक जीवन उतना ही कठिन एवं जटिल था। ऋग्वेद में हमें आर्यों की अत्यन्त अविकसित धार्मिक विचार धारा से लेकर सम्यक् रूप से विकसित विचार धारा का दर्शन होता है। इसके क्रमिक विकास में परमपुरूष से लेकर प्रकृति की विभिन्न शक्तियां, बहुदेवसाद, एकेश्वरवाद तथा स्वर्ग, नरक, गोह, पुर्नजन्म, आदि का चित्रण मिलता है। इसके अतिरिक्त पितृदेव, आचार्य देव, मातृदेव व अतिथि देव की भी झांकी मिलती है।

1. प्राकृतिक शक्तियों का दैवीकरण : अनन्त आकाश को जिसमें सूर्य, चन्द्र, तारागज, वर्षा, भीषण गर्जन आदि थे, उनको धौस के रूप में अपना देवता मान लिया। इसी क्रम में पृथ्वी को भी उसने अपना देवता मान लिया। इस प्रकार द्यौस व पृथ्वी आरम्भ में आर्यों के देवता बन गये। इसी प्रकार अन्य प्राकृतिक शक्तियों को अपना देवता स्वीकार कर लिया।

2. प्राकृतिक शक्तियों का मानवीकरण : दैवीकरण के बाद आर्यों ने प्राकृतिक शक्तियों का मानवीकरण किया, जिनको मुख्यतः तीन भागो में विभाजित किया गया है।

1. पृथ्वी के देवता : पृथ्वी, अग्नि, सोम, बृहस्पति, नदियों के देवता आदि

2. अंतरिक्ष देवता : इन्द्र, रूद्र, वायु, पर्जन्य, मातरश्विन

3. आकाश के देवता : द्यौस, वरूण, सूर्य, सविता, पुषन, विष्णु आदित्य, उषा आदि।

इस प्रकार आर्यो ने अपने देवताओं की कल्पना प्राकृतिक शक्तियों के प्रतिनिधि के रूप में मनुष्य रूप में कर डाला और उनमें समस्त मानवेचित गुणों को आरोपित कर दिया। फर्क इतना था कि देवता मनुष्य की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली और अमर माने गये।

यूनान : यूनान में भी भारत की तरह देवताओं का मानकीकरण किया गया था। लेकिन उनके देवता में मानव के गुण दोष सबलातए–निर्बलताएं दोनो थीं लेकिन आर्यों के देवता में गुण ही थे, दोष नहीं थे।

सर्व शक्तिमान होते हुए आर्यों ने अपने देवताओं स्वेच्छाचारी, अनियन्त्रित होने से बचाने के लिए उन पर ऋत तथा व्रत धर्म लाद दिया। ऋत नैतिक व्यवस्था को कहा गया है जो देवताओं का नियामक था। उन्हें सदाचार तथा नैतिकता की प्रेरणा प्रदान करता था। इसी ऋत व्यवस्था से सभी देवता संचालित थे। ऋत् व्यवस्था के नियामक वरूण थे, जो सभी को उनके कर्मों तथा कुकर्मों के अनुसार दण्डित तथा पुरस्कृत करते थे।

इस प्रकार भारतीय आर्यों का आदि धर्म प्रकृति के मानवीकरण एवं मानवीकृत उन शक्तियों में ऋत संरोपण पर आधारित था।

मानवीकरण ने उपासक व उपास्थ के बीच धनिष्ठता स्थापित कर दी। अगर मानवीकरण न किया होता तो आर्यों के धार्मिक जीवन में वह आहल्लाद न आ पाता जिससे उनके जीवन का प्रत्येक क्षेत्र ओतप्रोत है। क्योंकि आतांकिल उपासक–मानव, उपास्थ–प्राकृतिक शक्तियों के प्रति नतमस्तक भले हो जाता परन्तु श्रद्धा के अभाव में उसकी उपासना में वह सदृश्यता न हो पाती।

इस प्रकार आर्य देवी देवताओं में आपस में नियंत्रित करने वाला ऋत न होता तो वे अनैतिक तथा स्वेच्छाचारी हो जाते फिर मानव व देव में अन्तर ही क्या रह जाता।

देवातिदेव की खोज : जैसे–जैसे समय बीतता गया वैसे–वैसे देवी देवताओं की संख्या बढ़ने लगी। वैदिक ऋषियों ने जिस समय जिस देवता की पूजा करते थे। उसी का सर्वोच्च देवता स्वीकार करते थे। तथा मैक्समूलर ने हेनोथीसम कहा है।

अंततः वैदिक विकास के साथ–2 आर्यों में यह प्रश्न उठने लगा कि आखिर बहुसंख्यक देवी देवताओं में सर्व प्रथम देवता कौन है?

इसके लिये आर्यों ने देवतओं को वर्गों में संगठित करना आरम्भ कर दिया तथा आकाश व पृथ्वी को द्यावापृथ्वी, मित्र वरूण, उषा रात्रि आदि। इससे देवताओं की संख्या कम हुई। प्रारम्भ में वरूण को देवातिदेवव माना गया। इसके बाद इन्द्र को माना गया।

एकेश्वरवाद एवं परमतत्व की खोज : आर्यों की जिज्ञासा देवातिदेव इन्द्र तक ही सीमित नहीं रही, उन्होने इन समस्त देवताओं के उपर अंत में परमतत्व की प्रतिष्ठता आरोपित की जिसे उन्होंने कभी हिरण्यगर्भ, कभी प्रजापति और कभी विश्वकर्मा के नाम से प्रख्यात किया।

एकेश्वरवाद की यह पराकाष्ठा थी। इसी एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठा के साथ आर्यों ने एक तत्व की भी स्थापना की जिसे उन्होने **सत्** के नाम से पुकारा।

इस प्रकार ऋग्वैदिक आर्यों के धार्मिक विकास की तीन स्थितियों का ज्ञान होता है। बहुदेववाद, एएमेश्वरवाद, एकास्मवाद।

पूजा विधान : ऋग्वैदिक आर्य निरांत प्रवृत्ति मार्गों का उसके जीवन में संयास और गृहत्याग का स्थान न था। देवाश्रम में ही देवापासना और देवभजन के द्वारा कल्याण प्राप्ति की चेष्ठा करता था।

देवताओं की उपासना यज्ञों द्वारा की जाती थी। ऋग्वेद में मंदिर तथा मूर्तिपूजा का उल्लेख नहीं मिलता। यज्ञ में दूध, घी, मांस, अन्न तथा सोम की आहूतियां दी जाती थी। सामान्यतः यज्ञ प्रत्येक मनुष्य व्यक्तिगत रूप से अपने लिये स्वयं करता था।

कभी–2 वह किसी ब्राहमण पुरोहित की भी सहायता लेता था। ऋग्वेद में यज्ञों का काफी महत्व था। ऋग्वेद का कथन है अग्निदेव जो मनुष्य तुम्हारा यज्ञ करता है वह स्वर्ग में चन्द्र बन जाता है।

देवोपासना : मुख्यतः भौतिक कल्याण जैसे युद्ध में विजय, अच्छी खेती, संतान प्राप्ति, आदि के लिये की जाती थी। उपासना का लक्ष्य परमार्थिक न होकर सांसारिक था।

ऋग्वेद में देवपूजा के साथ पितृपूजा की भी स्थापना हो गयी थी। एक स्थान पर देवों और पितरों का साथ–साथ उल्लेख किया गया है।

ऋग्वेद में यज्ञों तथा स्मृतियों के साथ मनुष्य की नैतिकता पर काफी जोर दिया गया था। एक स्थान पर एक उपासक अपने आराध्यदेव से प्रार्थना करता है कि ''है देव यदि हमने अपने किसी सहृदय का अहित किया हो, तो हमे इस पाप से मुक्त कर''।

दूसरे स्थान पर ऋषियों ने निर्धन, भूखे, असहाय मनुष्यों के प्रति उदार और दानशील होने की सम्मति दी है। अन्य स्थलों पर जादू, टोना, टोटका, धोखा आदि की घोर निन्दा की गई है।

ऋग्वेद में स्वर्ग तथा नरक का बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है। स्वर्ग के विषय में एक स्थल पर चर्चा मिलती है। स्वर्ग के विषय में एक स्थल पर चर्चा मिलती है कि ''वहां दिन रात तथा जल सभी सुन्दर तथा आरामदायक होते हैं। वहां मनुष्य बलिष्ठ तथा सुन्दर शरीर को प्राप्त करता है। पूण्यकर्मी प्राणी अपने राशी कर्मों का फल प्राप्त करते हैं।

नरक की कल्पना एक निम्न स्तरीय अधंकूप से की गयी है। पापकर्ता नरक में जाता है। ऋग्वेद अमरता का भी उल्लेख करता है। परन्तु मोक्ष का नहीं। कदाचित उस समय तक मोक्ष के स्थान पर स्वर्ग ही मनुष्य का लक्ष्य था।

ऋग्वैदिक ऋषि आत्मवादी था। वह आत्मा में विश्वास करता था। ऋग्वेद की कुछ ऋचाओ से अनुमान होता है कि आर्य पुर्नजन्म को भी मानते हैं परन्तु विषय में कुछ निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता।

ऋग्वेदिक ऋषियों के विचवार पूर्णतया आशावादी थे। जिसमें निराशावाद की कोई झलक नहीं मिलती। जीवन चाहे सत्य रहा हो या क्षुद्र वे उसका पूर्ण उपयोग करना चाह रहे थे। उन्होनें जीवन का बंधन मानकर उसके सुखों की उपेक्षा करने का कभी प्रयास नहीं किया और न ही काया क्लेष में आदि में ही विश्वास किया।

———————————————————